

हमारे ऊपर 'देव-ऋण' की भाँति है राष्ट्रभाषा का दायित्व!

प्रो. हरीश कुमार शर्मा

भारतीय आचार्यों ने व्यक्ति के जीवन पर तीन ऋण स्वीकार कर उनसे उसे मुक्त होना आवश्यक बताया है। ये ऋण हैं- पितृ-ऋण, गुरु-ऋण और देव-ऋण। पर, उन्होंने राष्ट्र का पर्याप्त स्तुतिगान करते हुए भी राष्ट्र-ऋण की बात नहीं की। कदाचित् उन्होंने इसकी जरूरत नहीं समझी। हमारे यहां राष्ट्र को भी देवता माना गया है और इस नाते उसका समाहार देव-ऋण में ही हो जाता है। यह भी एक ऋण है- राष्ट्र-ऋण। हमें याद है, जब हम बचपन में स्कूल की ओर से प्रभात-फेरी के लिए निकलते थे तो 'भारत माता की जय', 'महात्मा गांधी की जय', 'जवाहरलाल नेहरू की जय' आदि नारे लगाते हुए यह भी उद्घोष करते थे कि 'जन्म जहां पर हमने पाया, उसकी रक्षा हम करेंगे', 'अन्न जहां का हमने खाया, उसकी रक्षा हम करेंगे'। एक लड़का पहली बात बोलता था और फिर सब विद्यार्थी समवेत स्वर में तीन बार यह नारा गुंजाते थे- 'हम करेंगे, हम करेंगे, हम करेंगे'। तो यह जज्बा था राष्ट्र के प्रति उन नारों में।

कहना यह है कि हमारे तमाम तरह के दायित्वों के साथ ही एक बड़ा दायित्व भी हमारा होता है- राष्ट्रीय दायित्व। जिस राष्ट्र में हमने जन्म लिया है, जहां हमारा पालन-पोषण हुआ है, जिस भूमि पर विकास कर हम आगे बढ़े हैं, उसके प्रति हमारी जो जिम्मेदारियां हैं, कर्तव्य हैं, दायित्व हैं- उनका निर्वाह करना। राष्ट्रभाषा भी हमारा ऐसा ही एक महत्वपूर्ण राष्ट्रीय दायित्व है। राष्ट्र के अनेक प्रतीकों में से राष्ट्रभाषा एक जीवंत प्रतीक है, जो कि हमारी अस्मिता की अवबोधक है। राष्ट्रगीत, राष्ट्रगान, राष्ट्रध्वज आदि भावात्मक प्रतीक हैं, जिनके प्रति सम्मान-भाव रखकर हम अपने भीतर गर्व और प्रेरणा जगाते हैं, पर राष्ट्रभाषा जीवन्त प्रतीक है- क्रियात्मक। इसके प्रति मात्र सम्मान प्रदर्शित करने भर से कुछ नहीं होता, इसको हमें अपने दैनंदिन जीवन में अपनाता होता है। इसका विकास करना होता है। इसका विस्तार करना होता है। इसे समृद्ध करना होता है। तब कहीं जाकर हमारे इस दायित्व की पूर्ति होती है। इसके लिए कुछ अलग से बहुत

प्रयत्न करने की जरूरत नहीं होती है। बस, अपनी भाषा और संस्कृति से जुड़े रहकर उनके प्रति स्नेह-भाव और पूरा सम्मान रखते हुए उनमें सहज भाव से काम करते रहने की जरूरत होती है। काम करने का भी मतलब यह नहीं कि सबको साहित्य-सृजन करना है। अपने दैनंदिन क्रिया-कलापों में अपनी भाषा का प्रयोग करना- यह भी उसको बचाने एवं उसके उत्थान में सहायक बन जाता है।

दिवक्कत यह है कि हिंदी की बात करते ही हमारे यहां दो तरह की धारणाएं बना ली जाती हैं और लोग प्रकट-अप्रकट रूप में उसका विरोध करने लगते हैं- एक तो अंग्रेजी-विरोध तथा दूसरा भारतीय भाषा-विरोध। जबकि वास्तव में यह दोनों ही बातें सही नहीं हैं। अपनी भाषा से प्रेम करने के लिये दूसरी भाषा का विरोध करना जरूरी नहीं, पर अपनी भाषा की कीमत पर उसे अपनाया भी नहीं जा सकता। वैश्विक सन्दर्भ में वर्तमान में जो अंग्रेजी की उपयोगिता है उसके कारण उससे दूरी बना लेना आज किसी भी राष्ट्र के लिये सम्भव नहीं, पर सवाल तो अपने देश में उसके अनिवार्य बनते चले जाने को लेकर है। आज देश में स्थितियां धीरे-धीरे करके ऐसी बनती जा रही हैं कि बिना अंग्रेजी-ज्ञान के चपरासी की भी नौकरी नहीं मिलने वाली। जब अपनी भाषाओं की उपयोगिता अपने ही देश में कुछ नहीं रहेगी तो हम उन्हें कैसे बचा पायेंगे? सक्षम लोग अंग्रेजी पढ़ें- दुनिया की बातें भारत में लाने के लिये तथा भारत की बातें दुनिया तक पहुंचाने के लिये। पर, देश में एक आवेदन लिखने तक के लिये अंग्रेजी क्यों जरूरी हो? नौकरी पाने, न्याय पाने, कोई कारोबार करने आदि के लिये क्यों उसका मुख्यापेक्षी होना पड़े? देशवासी की उन्नति में वह बाधा क्यों बने? अंग्रेजी ज्ञान के अभाव में देशवासी में हीनता-बोध क्यों पैदा हो? एक विदेशी भाषा के कारण देश भारत और इण्डिया में क्यों बंटे? अपनी भाषाओं को भुला देने या उनकी उपेक्षा करने या उनके प्रति हीन भाव उत्पन्न करने का कारण क्यों अंग्रेजी बने?

प्रोफेसर-हिन्दी विभाग एवं भाषा संकायाध्यक्ष (डीन), राजीव गांधी विश्वविद्यालय, रोनी हिल्स, दोइमुख (ईटानगर),
अरुणाचल प्रदेश-791112, ई-मेल : hksqpn@gmail.com

और, रही बात हिन्दी से अन्य भारतीय भाषाओं को कोई हानि होने की, तो इसका तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि दोनों की भूमिका अपने-अपने स्थानों पर अलग-अलग है और एक-दूसरे से कम महत्त्व की नहीं है। इसे भारत के नेताओं ने भी बार-बार स्पष्ट रूप से अनेक स्थलों पर घोषित किया है। महात्मा गांधी ने आजादी से ठीक पहले ही इस शंका का निवारण स्पष्टतः किया था। उन्होंने कहा था कि “महान प्रान्तीय भाषाओं को उनके स्थान से च्युत करने की कोई बात ही नहीं है क्योंकि राष्ट्रीय भाषा की इमारत प्रान्तीय भाषाओं की नींव पर ही खड़ी की जानी है। दोनों का लक्ष्य एक-दूसरे की जगह लेना नहीं, बल्कि एक-दूसरे की कमी पूरी करना है।” इसलिये यहां दो बातें बहुत ही साफ तरीके से समझ लेनी चाहिए। पहली यह कि हिन्दी के समर्थन का मतलब अंग्रेजी सहित किसी भी विदेशी भाषा का विरोध करना नहीं है। दूसरी यह, कि हिन्दी के समर्थन और उत्थान का मतलब सिर्फ हिन्दी भाषा से नहीं, अपितु हिन्द की सभी भाषाओं से होना चाहिए।

आजादी से पहले देश के समक्ष भाषा का प्रश्न प्रश्न के रूप में नहीं था, एक हल के रूप में था और यह हल देश की विभिन्न प्रांतीय भाषाओं में समन्वय एवं केंद्र-राज्य संबंधों के लिए हिंदी के प्रयोग के रूप में ढूंढ लिया गया था। किंतु, आजादी के बाद भाषा का जो प्रश्न उठा, या कहें कि उठा दिया गया, वह आज पहले से भी और अधिक जटिल हो गया है तथा अपनी शाखाओं-प्रशाखाओं के रूप में फैलता हुआ जटिलतर होता जा रहा है। जब तक इस प्रश्न का कोई समुचित समाधान नहीं मिलता, यह विचारणीय ही बना रहेगा। आज हमें सोचना यह है कि अपनी राष्ट्रभाषा के रूप में हम हिंदी को अपना सरताज बनायें जिससे हमारा स्वत्व और स्वाभिमान सुरक्षित रहता है और जो देश की रगों में स्वाभाविक रूप से समाई हुई है, या फिर अपने स्वत्व और स्वाभिमान को खोने की कीमत पर अंग्रेजी को अपने सिर का बोझ बनाकर उसे अपने ऊपर लाद लें। यूँ सैद्धांतिक रूप में भले हिंदी का प्रयोग घटा हो, पर व्यावहारिक तथा जनमाध्यम रूप में आज इसका फैलाव कहीं अधिक बढ़ा ही है।

राष्ट्र की मात्र भौगोलिक-राजनीतिक पहचान ही नहीं, सांस्कृतिक पहचान भी हुआ करती है और संस्कृति का एक बहुत ही महत्वपूर्ण अवयव है- भाषा। भाषा साहित्य का अभिव्यक्ति पक्ष है और साहित्य संस्कृति का अनुभूति पक्ष। इसलिए भाषा में मात्र भाषा का प्रश्न ही सम्मिलित नहीं होता, अपितु साहित्य और संस्कृति के प्रश्न भी मिले-जुले होते हैं। भाषा का संस्कृति से गहरा संबंध है और संस्कृति का पहचान से। अनेकता में एकता

की विशेषता रखने वाली भारतीय संस्कृति की एकता में संस्कृत भाषा का बड़ा योगदान रहा है। यूरोपीय देशों के सभी लोग हमें एक जैसे लगते हैं, लेकिन उनकी भाषा से आसानी से पहचान हो जाती है कि यह जर्मन है, यह फ्रांसीसी, यह रूसी कि यह इतालवी। एशिया के लोगों की पहचान भी बाहर अधिकतर भाषा से ही आसानी से हो जाती है। भारतीय उपमहाद्वीप के अधिकतर लोगों के एक जैसे लगने के बावजूद भाषा उनकी सहजता से पहचान करा देती है।

कुछ मायनों में तो भाषा और संस्कृति धर्म से भी बड़ी चीजें हैं और कई बार तो यह राष्ट्र और राष्ट्रियता की हदों को भी पार कर जाती हैं। भारत, बांग्लादेश, पाकिस्तान, नेपाल, श्रीलंका, भूटान आदि देश ही नहीं, सात समंदर पार के मॉरीशस, सूरीनाम, फिजी, गुयाना, त्रिनिनाद जैसे देश भी इसका उदाहरण हैं। भारत और बांग्लादेश दो अलग राष्ट्र हैं, पर बांग्ला भाषा और संस्कृति को लेकर भारतीय बंगाल और बांग्लादेश में कोई विशेष दुराग्रह नहीं। उर्दू और हिंदी को धर्म का आधार देकर भले कभी विवाद पैदा करने की कोशिश की गई हो, परंतु पाकिस्तान बनने के बाद उर्दू वहां की तो भाषा बनी ही, भारत ने भी उसको राष्ट्रियता का आधार मानकर किनारे नहीं कर दिया। भारत के पड़ोसी राष्ट्र नेपाल में अलग राष्ट्रियता होने के बावजूद हिंदी के प्रयोग को लेकर कोई कुंठा नहीं और भारत में तो नेपाली खैर संविधान की अष्टम अनुसूची में उल्लिखित भाषा है ही। विश्व के अनेक देशों में भारतवंशी पीढ़ियों से बसे हुए हैं। वहां के स्थायी नागरिक बनकर विभिन्न भूमिकाओं में, यहां तक कि राजनीति तक में अपनी साझेदारी करते हुए और जिम्मेदारी निभाते हुए उन देशों के विकास में अपना बहुमूल्य योगदान दे रहे हैं, पर उन्होंने भारतीय भाषाओं और संस्कृति को बचाये और बनाये रखा है। वे उनकी राष्ट्रियता की भावना और राष्ट्र के प्रति कर्तव्य-बोध में कभी आड़े नहीं आतीं।

प्रसिद्ध गीत ‘सारे जहां से अच्छा हिन्दोस्तां हमारा’ आप सबने सुना होगा। इसके रचयिता मुहम्मद इकबाल थे, जो बाद में द्विराष्ट्रवाद के समर्थक हुए और पाकिस्तान चले गये। अपने इसी गीत में वे आगे लिखते हैं-

यूनान मिस्र रोमा सब मिट गए जहां से,
बाकी मगर है अब तक नामो-निसां हमारा।
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी,
सदियों रहा है दुश्मन दौरे जहां हमारा।

यह यूनान, मिस्र, रोम के मिटने का क्या मतलब है? क्या ये देश अब दुनिया के नक्शे में नहीं हैं? अवश्य हैं। भौगोलिक रूप से उनकी अवस्थिति अब भी है। फिर, इकबाल उनके किस रूप में मिटने की बात अपने इस गीत में करते हैं? आधार

है- संस्कृति, जो कि उन देशों की मूलभूत पहचान थी। इन देशों की पुरातन सभ्यता-संस्कृति नष्ट हो गई। फिर वह जिस भारतीय हस्ती के अमित रहने की बात करते हैं तो क्या उसका धर्म से कोई संबंध है? तकरीबन चौदह-पंद्रह सौ साल पुराने इस्लाम धर्म से कोई संबंध है, जिसे उनके पूर्वजों ने कुछ ही पीढ़ी पहले अपना लिया था? निश्चित रूप से इसका संबंध धर्म से नहीं, संस्कृति से है। धर्म तो भारत में समय-समय पर बहुत से आते रहे- अंदर से भी, बाहर से भी और लोग उन्हें अपनाते भी रहे। पर, सांस्कृतिक रूप में, भारतीयता के रूप में, भारत राष्ट्र और उसके निवासी एक भारतीय जन के रूप में हमारी पहचान सदा ही अक्षुण्ण रही है, राजनीतिक रूप से भले हमारी पहचानें समय-समय पर बदलती रहें।

वह कौन सी बात है हमारी, हमारे भीतर कि जिसके कारण हमारी हस्ती मिट नहीं सकी। बावजूद इसके कि समय-समय पर तमाम तरह के राजनीतिक, धार्मिक और अन्य आक्रमण हम झेलते रहे। वह बात है हमारी अपनी धरोहरों को सँजोये-सहेजे रखने की प्रवृत्ति की। अपनी परंपराओं से जुड़े रहने की। अपनी चीजों के प्रति मोह की। अपनी उपलब्धियों के सम्मान की, उन पर गौरव-भाव मन में रखने की। नालंदा, तक्षशिला, विक्रमशिला जैसे विश्व-प्रतिष्ठित विश्वविद्यालयों के न रहने पर भी, उनको भारी क्षति पहुंचाने, यहां तक कि नष्ट कर दिए जाने के बावजूद यदि हमारी ज्ञान-संपदा सुरक्षित रह सकी तो कैसे? एक तो ज्ञानार्जन की श्रुति-स्मृति परंपरा और दूसरे पुस्तकों के प्रति हमारे मन में उत्पन्न किया गया सम्मान का भाव। एक तरह का अंधविश्वास भी इसे आप कह सकते हैं कि एक सामान्य व्यक्ति के घर में, यहां तक कि वह अनपढ़ भी हो तो भी- रामायण, महाभारत, गीता जैसे ग्रंथ यदि बड़े कायदे से कपड़ों में बांधकर रखे गए होंगे, तो कोकशास्त्र जैसी पुस्तकें भी। किताबों के प्रति पूज्यभाव हमारे मन में ऐसा है कि किताब गिर जाए या उस पर पैर लग जाए तो उसको तुरंत प्रणाम करेंगे, माथे से लगायेंगे। तो, यह वह चीज थी जिसने हमको बचाया, हमको एक जीवित कौम बनाये रखा। आज हर चीज के प्रति अनास्था पैदा करने की कोशिश की जा रही है, बिना उसको जांचे-परखे, बिना उसकी उपयोगिता-अनुपयोगिता पर विचार किये कि यह चीज पुरानी है, यह तो अमुक वर्ग द्वारा बनायी-चलायी गयी है, इसलिये इसे छोड़ो, इसे खत्म करो।

कहने को हम आजाद हुए, अंग्रेजी शासन बदला, लेकिन अंग्रेजी शासन व्यवस्था? वह तो नहीं ही बदली! शिक्षा की हालत यह है कि हम ले-देकर तमाम किंतु-परंतु के बाद आखिर वहीं पहुंच जाते हैं कि अंग्रेजी पढ़ाई जाये छोटी कक्षाओं से ही। यह अंग्रेजी का भूत हमारे दिमाग में ऐसा घुसा बैठा है कि हमें

लगता है इसके बिना हम आगे बढ़ ही नहीं सकते। और यह अंग्रेजी का भूत इसलिए है, क्योंकि अंग्रेजों के भूत से हम मुक्त नहीं हो पाए। जबकि यथार्थ यह है कि इस अंग्रेजी के भूत ने ही हमारा काफी नुकसान किया है। आपको पता है, हिंदी क्षेत्रों में ग्रामीण स्कूलों के विद्यार्थियों को गणित के बाद किस विषय का डर सर्वाधिक सताता है? अंग्रेजी का। अंग्रेजी की बाध्यता के चलते ही उनमें से बहुत से पास नहीं हो पाते और नकल के लिए भी सर्वाधिक मारामारी इन्हीं दो विषयों में चलती है। आखिर क्यों हमने देश में अंग्रेजी पढ़ना अनिवार्य किया? क्या इससे अच्छा यह नहीं हो सकता था कि अकेले अंग्रेजी के स्थान पर संविधान में अनुसूचित 22 भाषाओं में से किसी एक भाषा को रखा जाता। अलग-अलग स्कूलों में अलग-अलग भाषाओं के अध्यापक होते और जिस विद्यालय में जिस भाषा का अध्यापक होता उसमें उसी भाषा की पढ़ाई होती। भारतीय भाषाओं को बच्चे सीख भी सहजता से सकते थे। इसी आधार पर नौकरी लगने के बाद उन्हें प्रारंभ में कुछ वर्षों के लिए उस प्रांत में जाकर बिताना अनिवार्य किया जाता। इससे भाषाएं जुड़तीं, संस्कृति जुड़ती, कार्य-संस्कृति बदलती और भावनात्मक आधार पर देश भी जुड़ता।

इस समय हिंदी के सामने घर-बाहर से दो चुनौतियां बड़ी हैं। बाहर से तो उसको सबसे बड़ी चुनौती अंग्रेजी दे ही रही है और अपनों के ही हाथों हिंदी को हर मौके-बेमौके अपमानित कराने का कोई मौका नहीं छोड़ रही। हिंदी इस चुनौती से बड़ी आसानी से निपट सकती थी यदि उसे अपने घर से सहयोग मिला होता। यदि आंतरिक एकता की शक्ति हो, तो बाहर की बड़ी-से-बड़ी चुनौती का सामना बड़ी सरलता से कर, उस पर विजय पाई जा सकती है। लेकिन, यदि घर कमजोर होने लगे, तो सामने आई छोटी चुनौती भी बहुत बड़ी बनकर संग लगने नहीं देती। भारतीय भाषाओं का पूर्ण सहयोग न मिलने से हिंदी की लड़ाई पहले ही अंग्रेजी से कमजोर पड़ रही थी कि अब उसकी अपनी सबसे बड़ी ताकत बोलियों को आपस में लड़ाने या प्रतिद्वंद्वी के रूप में उभारने का मौका और यहां के नेतृत्व वर्ग ने सुलभ करा दिया। हिंदी-अंग्रेजी की प्रतिस्पर्धा में अपना झुकाव अंग्रेजी की तरफ दिखाकर अन्य भाषा-भाषी तो यह भूल ही गए कि यदि हिंदी जैसी सशक्त, समृद्ध और उनकी भाषा से अधिक व्यापक वर्ग में समादृत भाषा हारेगी, तो उनकी भाषाओं की पराजय भी बहुत दूर नहीं रह जाएगी। लेकिन चिंता तो यह है कि चंद सुविधाओं की खातिर हिंदी क्षेत्र के लोग भी यह भूल रहे हैं कि उनकी अपनी-अपनी बोलियों के हित हिंदी के साथ होने में अधिक सुरक्षित हैं। अलग-अलग होने से उनकी कमजोरी प्रकट होगी, जो हिंदी को तो कमजोर करेगी ही, उनकी बोलियों

के भी हित में नहीं होगा।

आखिर वह कौन सी वजह है जो पहले मैथिली हिंदी से अलग हुई, अब भोजपुरी, राजस्थानी जैसी भाषाएं अपना अलग स्थान मांग रही हैं? फिर ब्रज, अवधी, कन्नौजी, गढ़वाली आदि अन्य बोलियों की बारी आएगी। क्या कभी कल्पना की है हमने कि हिंदी को बांटने और तोड़ने का यह सिलसिला कहां जाकर रुकेगा? जिस अपने महान लोकतंत्र का गुणगान और बखान करते हम नहीं अघाते, उस लोकतंत्र ने हमें कैसे बाँट और काट दिया है आपस में, कभी इसकी भी कल्पना की है किसी ने? जातियों, धर्मों, क्षेत्रों, भाषाओं और बोलियों आदि के नाम पर विभाजन और विद्वेष के बीज बोने और तात्कालिक लाभ की फसल काटने का क्रम कहीं रुकेगा क्या? क्या समस्या है हिंदी की बोलियों को? क्या मैथिली के विद्यापति हिंदी में नहीं पढ़ाये जाते और परिगणित नहीं किये जाते? राजस्थानी के चन्द्रवरदाई, भोजपुरी के कबीर, अवधी के तुलसीदास और जायसी, ब्रज के सूरदास ही जब हिंदी की पहचान नहीं रह जाएंगे, अपनी-अपनी भाषाओं के अलग मन्दिर बनाकर उनकी प्राण-प्रतिष्ठा जब वहां की जायेगी तो नानक, रैदास, नामदेव, चैतन्य महाप्रभु, शंकरदेव आदि का क्या होगा? जरूरत हिन्दी का विस्तार करने की थी, हम उसे संकुचित कर रहे हैं।

संकट सिर्फ हिंदी पर है, ऐसा भी नहीं है। अंग्रेजी का दखल हर भाषा में बढ़ रहा है। प्रत्येक भारतीय भाषा आज अंग्रेजी से संक्रमित हो रही है और सबमें उसका दबदबा धीरे-धीरे बढ़ रहा है। लेकिन, किसी को परवाह नहीं है। एक-आध आवाज कहीं से उठती है तो वह उतना असर नहीं छोड़ पाती, क्योंकि समवेत स्वर तो उसमें मिलते ही नहीं। अंग्रेजी-ज्ञान को हमने अपनी शान से जोड़ लिया है और उसके ज्ञान से अपने को सभ्य और सुसंस्कृत बनाने का भ्रम पाले हुए हैं। इसके कारण हुआ यह है कि जो टूटी-फूटी भी अंग्रेजी जानता है या जो नहीं भी जानता है, वह भी अपने अंग्रेजी-ज्ञान का दिखावा करता हुआ गलत ही सही, बोलने की कोशिश करता है। इसके कारण अंग्रेजी शब्दों का चलन दिनानुदिन भाषाओं में बढ़ता ही जा रहा है, क्योंकि मीडिया भी उसी को परोसने में लगा है।

परिणाम यह कि अब हमारे पास भारतीय टीम नहीं, टीम इंडिया है। यहां भ्रष्टाचार नहीं, करप्शन होता है। अब हमारे पास मुख्यमंत्री, प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति नहीं, अपितु चीफ मिनिस्टर (सी एम), प्राइम मिनिस्टर (पी एम), प्रेसिडेंट हुआ करते हैं। और, हम मान लेते हैं कि इन सब शब्दों को देश का हर आदमी समझ रहा है। समझना ही पड़ेगा देशवासी को, क्योंकि उसकी यह नियति बना दी गयी है! देश के नेता जब पूर्वोत्तर में आते हैं तो अंग्रेजी में बोलते हैं, बिना यह जाने कि यहां के लोगों ने अपने

राष्ट्र और राष्ट्रभाषा प्रेम के चलते कैसे मेहनत से हिंदी सीखी है। उनको क्या पता कि एक आम आदमी के लिए अंग्रेजी यहां भी वैसे ही सिर के ऊपर से गुजर जाने वाली भाषा है, जैसी कि अन्य क्षेत्रों में उसकी स्थिति है।

जब तक हम अपनी भाषाओं में नहीं सोचेंगे या सोचने-करने का मौका नहीं देंगे तब तक न तो हम समग्र विकास और सबके लिए विकास की सोच को मूर्त रूप दे पाएंगे और न अपनी स्वाधीनता और संप्रभुता को अखण्ड, अक्षुण्ण और सशक्त बना सकेंगे। देश के निर्माण में हर व्यक्ति की भागीदारी हो और हर तरह की प्रतिभा का उपयोग हो सके, इसके लिए भाषा जो एक बड़ा बंधन है, उसे हमें हटाना ही पड़ेगा। अगर आप राष्ट्रीय उपयोग के लिए हिंदी के महत्व को स्वीकार कर पाएंगे, तभी प्रांतीय उपयोग के लिए अपनी भाषा का महत्व समझ कर उसे मजबूती से अपना पाएंगे।

मुझे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा सुनाया गया एक किस्सा याद आ रहा है जो उन्होंने अपने ददरी (बलिया) के मेले वाले व्याख्यान में सुनाया था। कोई एक सज्जन उधार के कपड़े पहनकर एक समारोह में गये। वहां लोगों ने सब पहचान लिया कि यह कुर्ता तो अमुक का है, टोपी तो फलाने की है कि जूते तो अलाने के हैं- वगैरह-वगैरह। जब सब पहचान लिया गया तो हंसने लगे और बोले कि 'भैया, अपनी तो बस मूँछें-ही-मूँछें हैं।' तो मित्रो! यह भाषा और संस्कृति भी हमारी मूँछें जैसी ही हैं- हमारे अस्तित्व और अस्मिता की अवबोधक, हमारी पहचान का आधार! सब कुछ उधार का लेकर भी कम-से-कम हम इन्हें तो बचाये रखें। इसलिये हमारे लिये आवश्यक है कि हम अपनी भाषाओं से जुड़ें और अपनी नयी पीढ़ी को भी जोड़ें। अपनी भाषाओं का विकास भी करें। उनमें बाहरी ज्ञान-विज्ञान की नकल ही नहीं भरें। मौलिक सूझ-बूझ के साथ कुछ नया उनमें प्रस्तुत करें। विश्व के 200 चोटी के विश्वविद्यालयों में भारत का एक भी विश्वविद्यालय सम्मिलित नहीं। नालन्दा और तक्षशिला जैसे विश्वविद्यालयों के देश भारत के लिये यह लज्जा की बात है। पर, इसकी बजह क्या है? मेरी समझ में- नकल! मौलिकता की कमी! जब हमने अध्ययन के लिये भाषा परायी अपनायी तो पद्धति भी हमें वह अपनायी ही थी। जब तक हम अपनी भाषाओं को सम्मान देते हुए अपनी शिक्षा-पद्धति विकसित नहीं कर लेंगे, अपना मौलिक कुछ नहीं दे सकेंगे, तब तक स्थिति ऐसी ही रहेगी। इस स्थिति को बदलना होगा। सरकारें जब जो करेंगीं, तब वह करें पर तब तक निजी तौर पर हम जो कुछ कर सकते हैं, वह करते रहें। वही हमारा देश के लिये योगदान होगा।